

बात सन् 1788 की है। तब तक भारत में चाय के कदम नहीं पड़े थे। हाँ, चीन में इसकी खेती खूब होती थी। और सौ-दो सौ सालों से नहीं बल्कि कहते हैं 2737 ईसापूर्व से हो रही थी। ऐसे में ईस्ट इंडिया हाउस ने सर जोसेफ बैंक्स को चाय पर एक लेख लिखने को कहा। लेख में बैंक्स ने चाय की खूबियाँ गिनाईं और सुझाया कि बिहार, रंगपुर और कूच बिहार में चाय उगाई जा सकती है। और इसके लिए पौधे चीन से लाए जा सकते हैं। बात आई-गई हो गई। लेकिन जब असम में चाय के जंगली पौधे मिलने की खबर मिली तो लोगों में इसे लेकर दिलचस्पी जागी। 1819 से 1821 के बीच इस चाय का एक नमूना कलकत्ता भी भेजा गया। भारत में चाय के जंगली पौधे मिलने की यह पहली पुख्ता खबर थी।

1847 में चाय की कीमतें:

8-10 रुपए प्रति सेर - ग्रीन टी

8-5 रुपए प्रति सेर - काली चाय

काबुल और मध्यएशिया से बड़ी संख्या में व्यापारी यहाँ से चाय लेकर जाते थे।

बहुत ही औसत गुणवत्ता की चाय 13

आना से 1 रुपए प्रति पाउण्ड (453

ग्राम) के हिसाब से बिकती थी।



भारत में सबसे पहले चाय पहाड़ों में ही आई?

खजान सिंह

पहाड़ों में चाय

1827 में डॉ. रॉयल को उत्तर भारत के पहाड़ों में चाय की खेती का विचार सूझा। वे सहारनपुर में ईस्ट इंडिया कम्पनी के बगानों के प्रभारी थे। उन्होंने बड़ी कोशिश की और 1834 में एक चाय-समिति बन ही गई। इसका काम यह देखना था कि किस तरह से चीन से चाय के पौधे भारत में लाए जा सकते हैं। और भारत में इन्हें किन खास जगहों पर लगाया जा सकता है। एक व्यक्ति को चीन भेजा गया ताकि वह चीनी चाय की असली किस्म और चीनी-किस्म को भारत में लाने के तरीके पता करे। इस दौरान भारत में उन जगहों की तलाश शुरू हो गई जहाँ चाय के बीज बोए जा सकते थे।

चाय की खेती के लिए और क्या-क्या ज़रूरी था यह जानने के लिए समिति ने जानकारों से भी सवाल पूछने शुरू कर दिए। इसके जवाब में कई पत्र मिले। इनमें चीनी चाय क्षेत्रों के तापमान, मिट्टी और मौसम की तुलना हमारे यहाँ के वातावरण से की गई। लिखा गया था कि समुद्र से 3000 फुट (या वह इलाका जहाँ गरम हवाएँ नहीं बहतीं) से लेकर वहाँ तक का हिस्सा जहाँ बर्फ नहीं गिरती है चाय उगाने के लिए अच्छा है। देहरादून की घाटी अच्छी किस्म की चाय उगाने के लिए सही नहीं पाई गई। बहुत से जानकारों ने लिखा कि हिमालय के कुछ हिस्सों में चाय ज़रूर उगाई जा सकती है।





**पत्तियों से चाय का बनना
चाय की पत्तियों को तोड़कर
उन्हें तेज़ी से भाप से गुज़ारा
जाता है।
फिर चपटाकर ऊँचे तापमान में
उन्हें सुखाया जाता है।**



जिन जगहों को चाय उगाने के लिए उपयुक्त पाया वे हैं – भीमताल, हवाबाग, देहरा (सभी समुद्रतल से दो से ढाई हज़ार फुट ऊपर), अलमोड़ा, नाहन, जेरापानी (समुद्र तल से चार से पाँच हज़ार फुट ऊपर) और मसूरी (समुद्रतल से साढ़े छह हज़ार फुट ऊपर)।

यमुना और गंगा के मैदान के बीच के पहाड़ी इलाकों में चाय के पौधों की नर्सरी बनाने की जगह ढूँढी जाने लगी। आखिर चीन से आने वाले चाय के बीज बोने के लिए दो जगहें चुनी गईं – एक थी, अलमोड़ा के पास समुद्रतल से 5000 फुट की ऊँचाई पर तीन एकड़ की जगह। और दूसरी भीमताल के पास चार एकड़ की जगह। यह समुद्र तल से 4500 फुट की ऊँचाई पर थी।

यह बात है 1834 की। इसी दौरान हल्ला मचा कि असम में असली चाय के नमूने खोज लिए गए हैं। चर्चा छिड़ गई कि चाय को असम में या ऐसे ही मौसम वाली दूसरी जगहों में ही उगाया जाए। सारा ध्यान कुमाऊँ और गढ़वाल से हटकर यहीं पर ठहरने लगा।

पर पहाड़ों में चाय उगाना जारी रहा।

1835 में चाय के लगभग 20000 पौधे कलकत्ते से कुमाऊँ भेजे गए। लेकिन एक भी पौधा वहाँ ज़िन्दा न पहुँचा। भेजे गए बीजों में से एक भी नहीं पनपा। लम्बी यात्रा और बीजों के छोटे जीवन के कारण ऐसा हुआ होगा। 1841 में चाय बागानों के प्रभारी डॉ. फॉक्नर कुमाऊँ की नर्सरी देखने गए। यहाँ चाय के

बेहद फलते-फूलते पौध देख वे बेहद खुश और उत्साहित हुए। उनके अनुसार चाय के लिए सबसे अच्छी ज़मीन वही है जो ढलवाँ हो। सिंचाई को उन्होंने चाय की खेती के लिए हानिकारक माना। इसलिए बेहद ज़रूरी होने पर ही सिंचाई की जानी चाहिए।

चाय की फसल फलने-फूलने लगी तो ध्यान उससे बनने वाली चाय पर गया। अब तक कोई नहीं जानता था कि इन पत्तियों से किस गुणवत्ता की चाय बनाई जा सकती है। उस वक्त तक पत्तियों से चाय तैयार करने वाले जानकार कम ही थे। चीन से बेहतरीन चाय तैयार करने वाले लोगों को कुमाऊँ और गढ़वाल के चाय बागानों में बुलाया गया।

चाय में चीनी...

1842 में चाय तैयार करने वाले चीनी कारीगर कुमाऊँ पहुँचे। यहाँ के चाय बागानों को देखते ही वे बोले कि यह तो असली चीनी चाय ही है। उन्होंने इसे असम की चाय से कहीं बेहतर पाया। उनके हिसाब से जड़ के पास से इनकी छँटाई करनी चाहिए ताकि आते बसन्त में इसमें नए पत्ते आ जाएँ। उन्होंने उस साल की पत्तियों से थोड़ी चाय भी बनाई। फॉक्नर ने उस चाय का एक नमूना इंग्लैंड भी भेजा। वहाँ इसके रंग और स्वाद को चीन की चाय जैसा ही पाया गया। हाँ, तैयार करते समय इसे कुछ ज़्यादा पकाया गया था।

डॉ. फॉक्नर के जाने के बाद डॉ. जैनसन ने सहारनपुर के बागानों का कार्यभार सम्भाला। 1844 में उन्होंने कुमाऊँ के चाय बागानों पर एक रिपोर्ट लिखी।





सुनी-सुनाई कहानी

कोई 200-250 साल पहले की बात है। भारत में अंग्रेजों का राज था। सयाने लोग बताते हैं कि उस समय पहाड़ों के बाज़ारों-हाटों के आसपास शौके लोग आया करते थे। शौके असल में चरवाहे समुदाय के लोग हुआ करते थे। वे अपने मुल्क से हींग, शिलाजीत, जड़ी-बूटियाँ, चाय की पत्ती वगैरह लाते। उनके पास चपटी तार से बना एक तरह का वाद्य पत्र बिमु हुआ करता था। वे बकरी के बालों से बने गलीचे पहाड़ों के हाट-बाज़ारों में बेचते थे। इसके बदले वे नमक, मसाले, और राशन खरीदकर ले जाते थे। शौकों के काफी बड़े काफिले हुआ करते थे। उनके पास बकरी-बकरों के बड़े-बड़े रेवड़ होते थे। लम्बी दाढ़ी और लम्बे-लम्बे बालों वाले बकरों के सिर पर ऐंठे हुए सुन्दर सींग होते थे। कहीं-कहीं पहाड़ी घरों के सामने किनारों पर वीरखम्बों पर ऐसे बकरों के सींगों की जोड़ी सजी हुई मिल जाती है।

शौके जो चाय देते थे उसको पीने से शरीर की हरारत-जुकाम ठीक हो जाता था और शरीर में खास तरह की ताज़गी महसूस होती थी। कहते हैं कि किसी समय किसी अंग्रेज़ ने चाय की पत्ती पी ली थी। उसे बहुत ताज़गी महसूस हुई! उसके दिमाग में इन पत्तियों के व्यावसायिक उपयोग की बात सूझी। उसने ईस्ट इंडिया कम्पनी के बड़े अधिकारियों को चाय के नमूने भेजे। जाँच परख और अध्ययन के बाद उत्तराखण्ड में चाय पैदा करने की बात सोची गई। वनस्पति वैज्ञानिकों ने चाय की नर्सरी लगाई जो सफल नहीं हुई। अंग्रेजों को पता था कि चीन में चाय की अच्छी पैदावार होती है। इसलिए चाय पैदा करने वाले चार चीनी लोगों को दो बड़े सन्दूकों में बन्द करके भारत लाया गया। तीन लोग तो रास्ते में ही दम घुटने से मर गए। केवल एक जना ज़िन्दा बचा। उसकी शादी पौड़ी की एक स्थानीय महिला से कर दी गई। यह परिवार आज चौकिन फैमली के नाम से जाना जाता है। चौकिन में चाय पैदा करने का खास हुनर था। वे चाय की नर्सरी को सफलतापूर्वक तैयार कर पाए थे।

इससे पता चला कि यहाँ 55 एकड़ ज़मीन पर चाय उगाई जा रही है। और जल्द ही इसे आगे बढ़ाने का इरादा था। डॉ. जैनसन पहाड़ी इलाकों के अच्छे जानकार थे। इसलिए नए इलाके चुनना आसान हो गया था।

अब तक पहाड़ों में चाय उगाना फायदे का सौदा बन गया था। सरकार इसे निजी हाथों में सौंपने लगी थी। अब इससे बनने वाली चाय की गुणवत्ता पर ध्यान दिया जाने लगा था। इस समय तक वहाँ 200 किलोग्राम चाय तैयार होने लगी थी। अब तक देहरादून समेत गढ़वाल और कुमाऊँ के कई इलाकों तक चाय की खेती फैल चुकी थी। अलमोड़ा से लेकर युरोप तक लोग इसे पसन्द भी करने लगे थे।

इसी समय डॉ. जैनसन को आदेश मिला कि सतलज और रावी नदियों के बीच के पहाड़ी इलाकों में चाय उगाने के लिए जगह तलाश की जाए।

1848 में पहाड़ों में 12 क्विंटल चाय की पैदावार हुई। इसमें से लगभग ढाई क्विंटल चाय इंग्लैंड भेजी गई। अब तक देहरादूनके मैदानी इलाकों में भी चाय की अच्छी-खासी पैदावार होने लगी थी। जबकि अब तक समझा जाता था कि चाय उगाने के लिए ढलवां ज़मीन ही बेहतर रहती है। इस तरह 1863-64 आते-आते तक पहाड़ों में 1700 एकड़ ज़मीन पर चाय की खेती होने लगी थी।

जब एक गाँव ने मिलकर चाय खाई

बात बहुत पहले की है। तब लोग चाय के बारे में ज़्यादा नहीं जानते थे। शबाई गाँव ने भी सुन ही रखा था कि देहरादून चाय कम्पनी एक अद्भुत आइटम बना रही है – चाहा। गाँव का एक आदमी नानक सिंह अंग्रेज़ साहब के साथ रहता था। उसने ही चाहा की बात गाँव में बताई थी। गाँव वालों को चाहा भी उसी ने लाकर दी थी। एक दिन पूरे गाँव ने निश्चय किया कि आज काफी सर्दी है इसलिए चाहा बनाई जाए। सारे गाँव के बच्चे-बड़े एक साझे आँगन में इकट्ठे हुए। पीतल के एक बड़े से गगरे में चाहा पकाई गई। बच्चे देर तक कटोरा लेकर इन्तज़ार करते रहे। आखिर में फैसला लिया गया कि चाय पक चुकी है। चाय का सारा पानी निथार दिया गया और थोड़ी-थोड़ी चाय-पत्ती सबके कटोरों में बाँट दी गई।

सबने पालियों में बैठकर चाय खाई। किसी को भी चाय का स्वाद नहीं भाया। सबने फैसला किया कि नानक सिंह और अंग्रेज़ सब पागल हैं। इतना खराब खाना और बेकार की तारीफ। बाद में नानक सिंह की खबर ली गई तब उसने चाय बनाने और पीने का सही तरीका बताया।

इस लेख की कुछ सामग्री डब्ल्यू सी एटकिंसन के हिमालयन गजेटियर से ली गई है।

